आधुनिक युग में धर्मों की भूमिका

प्रो. पी. जी. योगी

धर्माणां प्रविचय मन्तरेण नास्ति।
क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः।
क्लेशैश्च भ्रमति भवार्णवेऽत्र लोक
स्तद्वेतोरत उदितः किलैष शास्त्रा।। [*अभिधर्म कोश 3 पृ 7*]

यतः धर्म प्रविचय के विना क्लेशों की शान्ति का कोई उपाय नहीं है, और क्लेशों के कारण ही लोक इस भवार्णव में भ्रमित होता है, अतएव कहते हैं कि इस प्रविचय के लिए शास्ता ने अभिधर्म का उपदेश किया है। धर्मों के प्रविचय के विना क्लेशों के उपसम का दूसरा कोई उपाय नहीं है और क्लेश ही लोक को इस संसार रुपी महार्णव में भ्रमित करते हैं। अतएव धर्मों के प्रविचय के लिए 'शास्ता' बुद्ध ने अभिधर्म का उपदेश किया है, क्यों कि अभिधर्म के उपदेश के विना धर्मों का प्रविचय करना शिष्यों के लिए अशक्य है।

धर्माणां प्रविचयः- धर्म पुष्पों के समान व्यवकीर्ण है। उन्हें चुनते हैं [प्रवीचीयन्ते, उच्चीयन्ते] औरस्तवकों में रखते हैं। यह अनाश्रव है, यह सास्रव है इत्यादि। धर्म प्रविचयकाल में एक चित्त संम्प्रयुक्त [चैत्त चैतसि] धर्म विशेष का जिसे 'प्रज्ञा' कहते है, प्राधान्य होता है। अत प्रज्ञा का लक्षण 'धर्म प्रविचय' है। [*अर्धिमकोश 2 पृष्ठ 5*]

यतः धर्म प्रविचय के विना क्लेशों की शान्ति का कोई उपाय नहीं है। और क्लेशों के कारण ही लोक इस भवार्णव में भ्रमित होता है धर्मों के प्रविचय के विना क्लेशों के उपशम का दूसरा कोई उपाय नहीं है। और क्लेश ही लोक को इस संसार रुपी महार्णव में भ्रमित करते हैं, [अभिधर्म कोश 23 पृ 567] सूत्रपाठ है, कि 84 हजार धर्म स्कन्ध हैं, [बुद्धिष्ट कास्मालाजी, पृ ¯, सुमंगलविलसिनी, पृ 25, थेरगाथा, 20, 24, प्रज्ञापारमिता, 1, 8, अवदानशतक, 2, पृ 155] धर्म स्कन्ध का प्रमाण क्या है? वही प्रमाण है जो शास्त्र का प्रमाण है, अर्थात् धर्म स्कन्ध संज्ञक अभिधर्म शास्त्र का प्रमाण जिस में 6 हजार [6000] गाथाएँ है। स्कन्धादि की एक, एक, कथा, एक-एक धर्म स्कन्ध है । स्कन्ध, आयतन, धातु, प्रतीत्य समुत्पाद, आर्यसत्य, आहार, ध्यान, अप्रमाण, आरुप्य, विमोक्ष, अभिभ्वायतन, कृत्स्नायतन, बोधिपाक्षिक, अभिज्ञा, प्रतिसंविद, प्रणिधि ज्ञान, अरणा आदि, एक-एक आख्यान, कथा एक-एक धर्मस्कन्ध है। वास्तव में प्रत्येक धर्म स्कन्ध एक-एक चरित के विनेय जन के प्रति पक्ष के लिए अनुवर्णित है। चरित के भेद से सत्वों की संख्या 80 हजार[80,000] है। कोई रागचरित, कोई द्वेषचरित, कोई मोहचरित, कोई मान चरित आदि। 80 हजार धर्मस्कन्ध इन सत्वों के प्रतिपक्ष के लिए वर्णित किये गये हैं। यथा धर्म स्कन्ध, रुप स्कन्ध,या संस्कारस्कन्ध में गृहीत होते है।

एक दुसरे निकाय में सुत्रपाठ है, कि 84 हजार [84,000]धर्म स्कन्ध है। सूत्र में आनन्द कहते है कि मैं ने भगवान् से 80 हजार [80,000]से अधिक धर्म स्कन्ध उद्गृहीत किये हैं।

सातिरेकणिमेऽशीति धर्म स्कन्ध सहस्त्राणि भगवतोऽन्तिकात सम्मुख मुद्गृहीतानि।[व्याख्या 52, 24, बर्नूफ भूमिका पृ34, सुमंगलविलासिनी,। पृ 24, थेरगाथा, 1024, नागार्जुन के अकुतो भय में प्रज्ञापारमिता, 1, 8, अवदानशतम 2, 155]।

शास्त्र प्रमाण इत्ये के स्कन्धदीनां कथैकशः।
चरित प्रति पक्षस्तु, धर्म स्कन्धोऽनुवर्णितः ।।[*अभिधर्मकोश, 26, पृ 40*]

धर्म क्या लक्षण है ? जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता ।

आयुर्जीवितमाधार उष्मविज्ञानयोर्हियः।

लक्षणानि पुनर्जाति जरा स्थितिर नित्यता ।।[अभिधर्म कोश, 45, पृ 167, 173]

लक्षणानि पुनर्जाति मध्यमक वृत्ति, 546, मध्यकामावतार, 193

"अभिधर्म के अनुसार चार मह भूत हैं":- षडदर्शनसंग्रह के अनुसार साम्मितियों का यह वाद है: चतु क्षणिकंवस्तु, जाति जर्नयति, स्थिति , स्थापयति, जारा जरयति, विनाशो विनाशयति। यह लक्षण विशेषित धर्म से अन्य है। यह इस धर्म की जाति, स्थिति, जरा और क्षय में हेतु है। यह त्रिलक्षण सूत्र है:- तीणिमानि भिक्खवे संखतस्स संखत लक्खणानि कतमानितानि:- उप्पादो पञ्ञायति, वयो पञ्ञायति, ठितस्स अञ्चथतं पञ्ञापति। [संयुक्तागम, 12, 21, अगुत्तर, 1, 152, मध्यमकवृत्ति, पृ 154, कथावत्थु, अनुवाद पृ 55, पृ 374]। जैसे :- अंगुत्तर निकाय में भी कहा गया है:- द्वे मे भिक्खवो धम्मा, सद्दमस्स सम्मोसाय, अन्तर धानाय, संवत्तन्ति:- कतमे द्वे? दुन्निक्खितं च पद व्यञ्जन अत्थो च दुन्नीतो :-

"दून्नि क्खितस्स भिक्खवे! पद व्यञ्जनस्स अत्थो पिदुर्न्नीतोहोति इमे खो भिक्खवे! द्वे धम्मा सद्धम्मस्स, समोसाय, अन्तर धानाय संवत्तन्तीति"। अर्थात्:- भिक्षुओ ये दो धर्मसद्धर्म के सम्प्रमोष और अन्तर्धान के कारण होते है। कौन दो? (1) उचित स्थान पर स्थापित न किये गये पद और व्यञ्जन तथा (2) भली भाँती न समझा गया अर्थ। भिक्षुओं! उचित स्थान पर स्थापित किये गये पद और व्यञ्जनों का अर्थ भी भली भाँती ज्ञात नहीं हो पाता। भिक्षुओ! ये दो धर्म सद्धर्म के सम्प्रमोष और अर्न्तधान के कारण होते हैं।

संसार परिवर्तनशील है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, सामान्य परिवर्तन प्रकृति ही करती रहती है। देश काल और रूप अधिष्ठान में अग्नि, जल, एवं वायु ये तीन वस्तु को बदलते रहते हैं। अग्नि गरमी देती है, जल तर्पण करता है, वायु स्फुरण देती है। इस से वस्तु का विनाश होता है। उत्पत्ति से विनाश तक की क्रियाओं में जो समय लगता है वही स्थिति है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्र चल रहा है। यह चक्र कब से चल रहा है, कब तक चलेगा? यह कहा नहीं जा सकता। यह अनादि है, अनन्त है। इस सामान्य परिवर्तन की अपेक्षा एक विशेष परिवर्तन भी होता है। वह है आचार विचार का परिवर्तन। यह परिवर्तन प्राय मनुष्यों में ही होता है। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा सर्वाधिक चेतन है। इन में विचारों की धारा प्रवाहित होती रहती है। संसार के सम्बन्ध में यह विचार करता है। विचार अनेक प्रकार के होते हैं। संसार क्या है ? कब से बना है ? किस लिये बना है ? इसका रचयिता कोई है अथवा यह अपने आप बनता है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते हैं। इसका समाधान सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता। दुरूह विषय होने के कारण बुद्धि थक जाती है। विचार रुक जाता है। अगत्या मनुष्य भोगा विमुख हो जाता है। इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति बहिर्मुख है। उच्च विचारकों की प्रवृत्ति भी भोगाभिमुख हो जाती है। तब भोग को समर्थन मिल जाता है। आचार भी लुप्त हो जाते हैं। संसार भोग प्रधान बन जाता है। भोग में अनेक दोष है। अधिक से अधिक मिलने पर भी अपूर्ण ही बना रहता है। इसकी सीमा नहीं है। रोग, शोक आदि तो उसके तात्कालिक फल हैं। सब से बडा दोष तो यह है कि दुर्बलों को सताये बिना भोग प्राप्त नहीं होता। जब संसार भोग प्रधान होता है तब सबल मनुष्य दुर्बलों को सता कर अपना सुख सम्पादन करने लगते हैं। हिंसा, मिथ्या, छल, कपट और पाखण्ड का साम्राज्य हो जाता है। सबल भी सुखी नहीं रह पाते। उनमें काम-क्रोध की अधिकता से हिंसा की प्रधानता हो जाती है।

क्रूरता, तृष्णा, तथा अभिमान बढ जाते हैं। सहस्रों आशा-पाश में बँधकर उन्मार्गी हो जाते हैं। उस समय प्राणी नहीं अपितु समष्टि की प्राण ही संकटा पन्न हो जाते हैं।।चारों ओर हाहा कार मच जाता है। त्राण पाने के लिये समष्टि अन्तकरण दीन पुकार करने लगता है। तब महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन की

आवश्यकता होती है। उस में प्रकृति का वश नहीं चलता। ऐसे अवसर पर ही एक दिव्य पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। वे अपने अलौकिक प्रभाव से मनुष्यों के आचार विचार में आमूल परिवर्तन करते हैं। तब संसार सुख की साँस लेता है। इतिहास साक्षी है। दो-ढाई हजार वर्ष के बाद ऐसे दिव्य पुरुषों का आविर्भाव होता रहता है। राम के बाद कृष्ण और कृष्ण के बाद बुद्ध हुए।

ये लोग विलक्षण पुरुष ढाई-ढाई हजार वर्ष के अन्तर देकर एक के बाद होते आये है। ये दिव्य विभूतियाँ प्रकट हो कर जब जैसी आवश्कयता पडती है, वैसा परिवर्तन करते हैं। तब हजारों वर्ष तक मानव जीवन सुख और शान्ति का अनुभव करता है।

ऐसे ही संक्रामक-काल में भगवान बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ है। उस समय भी महान् परिवर्तन की अपेक्षा थी। लोग-भोग-लोलुप, हिंसा-परायण, एवं क्रूर कामा हो गये थे। पशुकी बात दूर रही , मनुष्य ही मनुष्य की बलि देता था। नर-बलि शास्त्र विहित एवं राज समर्थित हो गई थी। स्वर्ग सुख की अन्ध-कल्पना से प्रेरित हो कर बल पूर्वक सहस्त्रों असहाय नर कल्पित देवी- देवताओं के भोज्य बनाये जाते थे। कुछ नियमित सुन्दर युवा नर-बली देने पर स्वर्ग में इन्द्र बनने का विश्वासरुढ हो गया था। स्वर्ग प्राप्ति का दुसरा साधन तप माना जाता था। कुछ लोग घर छोड कर निर्जन वन में जाकर घोर तामसी तप करते थे। अन्न जल सर्वथा छोडकर शरीर सुखा देते थे। अग्नि, जल, भृगुपात से शरीर त्याग कर सीधे स्वर्गकी प्राप्ति मानी जाती थी। लौकिक सुख अपूर्ण है, स्वर्गीय सुख ही पूर्ण है, जीवात्मा स्वर्ग मे जा कर भोग-भोगता, इस प्रकार भोग की तीव्र लालसा की प्रबल प्रेरणा से लोग मिथ्याचार, मोघ विचार, के हो गये थे। भगवान "बुद्ध" ने तप और त्याग का तथा भोग का यथार्थ भेद बताया, तप और भोग की अपेक्षा मध्यममार्ग को श्रेष्ठ बताया, मनुष्य को सन्मार्ग में चलकर प्राणीमात्र का हित करना कर्तव्य बताया, तथा 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय', इस महा मन्त्र का उद्घोष किया, जैसे - भगवान राम के चरित्रों एवं उपदेशों और आदर्शों को महर्षि बाल्मीकि ने सुललित संगीतमय (रामायण) महाकाव्य के द्वारा स्थायी प्रचार किया है। तथा जैसे भगवान् कृष्ण के चरित्रों तथा उपदेशों को महामुनि व्यास ने महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि दिव्य ग्रन्थों द्वारा विश्व साहित्य के रुप में सम्पादित किया है, उसी प्रकार आचार्य अश्वघोष ने जिनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है, वे पुराण के महापण्डित, रामायण, महाभारत के प्रकाण्ड विद्वान वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ एवं दर्शन के तत्ववेत्ता है। उन्हों ने अपने महाकाव्य (बुद्धचरित) में महामानव बुद्ध के चरित्र का सजीवचित्र खीचा है।

श्रीमद्भगवद् गिता के चतुर्थ अध्याय में श्री कृष्ण भगवान्, अर्जून को उपदेश देते हुए कहते हैं।

"यदा यदा हिधर्मस्यग्लानिर्भवतिभारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थाप नार्थाय सम्भवामि युगे युगे" ।।

विश्व के इतिहास में भगवान "बुद्ध" प्रथम महापुरुष हैं, जिन्हों ने आज से लगभग ढाई हजार [2541 B.E] वर्ष पहले जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रीयता और धर्मो एवं सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत हिंसा की मान्यताओं के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द की थी। उन्हों ने इन सभी क्षुद्रमान्यताओं के कारण मनुष्य का अज्ञान और उसमें हिन स्वार्थ को बताया है जिसके पीछे उसकी तृष्णा काम करती है। उन्हों ने सारी मानव-जाति को सम्बोधित कर कहा कि सृष्टि में मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। वह स्वयं अपना और अपने संसार का भाग्य विधाता है। दुनिया के अच्छा बुरा होने के पीछे मनुष्य की ही अच्छाई या बुराई एक मात्र कारण है। मनुष्य अपने दुःखों का कारण स्वयं है। उस दुःख प्रवाह से मनुष्य का छुटकारा न तो कोई दूसरा करा सकता है और न उसके लिये मार्ग ही खोल सकता है। इसके लिये मनुष्य को खुद् अपने को रोशनी बनानी पडेगी

और अपने ही प्रकाश में खुद ही चलना पड़ेगा। बुद्ध ने बताया मानव जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य है :- मनुष्य को भीतर बाहर सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा दिलाना। इस महान लक्ष्य को स्वीकार करने के साथ ही मनुष्य के लिये यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि वह समस्त प्राणियों में अपरिमित मैत्री का विस्तार करे। बुद्ध ने कहा कि जैसे माता अपने इकलौते पुत्र की रक्षा के लिये अपने जान की परवाह नहीं करती, उसी प्रकार मनुष्य को चाहिये कि सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा के लिये उनके प्रति सीमा रहीत मैत्री भावना का विस्तार करे। उन्हों ने सम्पूर्ण मानव जाति से अपील की, सृष्टि की सारी मानुषी प्रजा से मैत्री स्थापित करो।

बुद्ध ने मनुष्यों के हित के लिये धर्मों की सीमा बताई। धर्मों के सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा- धर्म सिर पर ढोने के लिये नहीं है। वह बाँस के बने बेड़े के समान है, जिसके सहारे असहाय आदमी नदी पार कर जाता है, किन्तु बेड़े को वही छोड़ देता है। बुद्ध ने कहा - अधर्म को छोडना है, इसमें कोई विवाद नहीं है, किन्तु अधर्म के समान धर्म को भी छोडना होगा। उन्हों ने कहा क्या धर्म है ? क्या अधर्म है ? इसके निर्णय के लिये किसी शास्त्र पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। उन्हों ने अपने अनुयायियों से कहा कि मैं ने जो कुछ बताया है, उसकी पुरी परीक्षा करलो, तभी उसे मानो। जैसे सोनार सोना खरीदने के पहले उसे आग में तपालेता है, छेनी से छेदता है, कसौटी पर कसता है, सभी प्रकार से भलिभाँती उसकी परीक्षा कर लेता है, तभी सही सोना मानता है।

उसी प्रकार बुद्धि और अनुभव की परीक्षाओं में खरा उतरने पर ही मेरी बातों को स्वीकार करना, अन्यथा नहीं। उन्हों ने धर्म का लक्ष्य बताया बहुजन का हित और बहुजन का सुख। जीवन के अन्तिम क्षण में भी उन्हों ने कहा बहुजन के हित और सुख के लिये अपने संम्पूर्ण जीवन को समर्पित करो और उसके पहले अपने राग द्वेष और मोह पर विजय प्राप्त करने के लिये सदा सावधान रहो।

तापाच्छेदाच्च निमषात् सुवर्णमिव पण्डितः।
परीक्ष भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो नतु गौरवात्।। [*ज्ञान सार सम्मुच्चाय 132*]

कौन सा मनुष्य श्रेष्ठ है ? इसे बताते हुए बुद्ध ने कहा किसी की श्रेष्ठता का निर्णय उसकी जाति, वंश और गोत्र आदि से नहीं हो सकता। जाति, वर्ण या गोत्र आदि वास्तव में होते ही नहीं। उन्हों ने लोगों से कहा कि यह उचित नहीं है कि किसी की जाती पुछा करो बल्कि उसकी जगह आचरण पुछो और उसे देखो।

इसी प्रकार उन्हों ने कहा कि कोई भी भाषा पवित्र या श्रेष्ठ नहीं होती। जहाँ मानव के लिये कल्याणकारी बातें हो, वही भाषा श्रेष्ठ और ग्राह्य है। उन्हों ने जोर दे कर कहा शब्दों (शास्त्रों) की शरण में न जाओ उसके अर्थ को देखो और उस अर्थ की ही शरण में जाओ। बुद्ध ने जन कल्याण के लिए जन भाषाओं के महत्व को स्वीकार किया। इसी लिये उन्हों ने कहा कि लोगों तक बातें उनकी जन भाषाओं में बताओं उन भाषाओं में नहीं, जिन्हें थोडे लोग श्रेष्ठ समझते हैं। यही कारण है कि हजारों वर्ष विश्व की सैकडों स्थानीय भाषाओं में बुद्ध की शिक्षाओं को लिखा गया, अनुवाद किया गया और यहाँ वहाँ प्रचारित किया गया। क्षेत्रों की श्रेष्ठता और पवित्रता के सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा कि कोई भी स्थान या क्षेत्र अपने में श्रेष्ठ या रमणीय नहीं होता, प्रत्युत जहाँ भी सज्जन एवं सन्त पुरुष निवास करते हैं, वही रमणीय है।

बुद्ध ने राजतन्त्र से गणतन्त्रको श्रेष्ठ बताया और व्यक्ति से संघ को श्रेष्ठ बताया। गणतन्त्र के आदर्शों के आधर पर ही उन्हों ने अपने संघ के भी निमय बनाये। गणतन्त्र की अच्छाइयों को स्वीकार करते हुए उसे पुष्ट करते रहने के लिए लोगों को प्रेरणा दी। उन्हों ने कहा जबतक गण तन्त्र के सदस्य मेल जोल से बैठक करते रहेगें, आपसी मत भेद हटा कर निर्णय लेते रहेगें, और जो भी निर्णय लेंगें उन्हें कार्यान्वित भी करते रहेगें, तब तक गणतन्त्रों को बाहरी शक्तियाँ पराजित नहीं कर सकती। उन्हों ने गणतन्त्र की आचरण संहिता में यह भी बताया कि उसके द्वारा वृद्धों और स्त्रियों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए प्रत्युत उन्हें विशेष सम्मान

मिलना चाहिए। भारतीय इतिहास में पहली बार उन्हों ने स्त्रियों को भी संघ बनाने की व्यवस्था दी। फलत स्त्रियाँ भी आध्यात्म के उत्कृष्टतम मूल्य को अपने जीवन में उतारने का अवसर प्राप्त कर सकीं। समानता की जो कुछ भावना गणतन्त्रों में थी, उसे अधिक महत्व देते हुए बुद्ध ने उसे संघ में स्वीकार किया। उन्हों ने कहा कि जैसे विभिन्न दिशाओं से आकर गंगा, सरयू, राप्ती आदि अनेकानेक नदियाँ समुद्र में मिलकर अपना, अपना, रुप, रंग और नाम विलीन कर देती हैं, तब खोजने पर भी अलग से उनका रुप, रंग और नाम नहीं मिल सकता, मिलेगा, सिर्फ समुद्र और उसका एक समान नाम, रुप और रंग।

उसी प्रकार विभिन्न वर्गों, जातियों और कुलों से आने पर संघ में सभी एक समान हो जाते हैं। यही कारण है कि संघ के उच्चतम धर्मासनों पर भी समाज के किसी भी वर्ग, वंश जातियों से सम्मिलित हुए लोगों को आसीन होने का सम्मान प्राप्त हो सका। संघ की आचार संहिता के द्वारा बुद्ध ने एक मानवतावादी उदार संस्कृति को जन्म दिया। बुद्ध के जीवन की अनेक ऐसी घटनाएँ हैं, जिनके प्रभाव में परम्परागत भारतीय संस्कृति नवीन रुप धारण कर सकी। एक दिन भोर की घटना है कि शाक्य गणतन्त्र के राजकुमार राजभवन का सम्पूर्ण सुख एवं वैभव त्याग कर संघ में सम्मिलित होने चले। उन के प्रति दिन का शुद्र सेवक नाई यह सब देखकर चकित रहा। उसने भी सोचा ये युवा जिन्हें सभी राज सुख प्राप्त है,उसे छोड कर जब भिक्षु होने जा रहे हैं, तो मैं सदा का दुःखी एवं उनका दास क्या करुँ ? शाक्य कुमारों के पीछे-पीछे वह भी संघ की ओर चला, वहाँ पहुँचने पर उस ने भी भिक्षु होने की इच्छा जाहिर की। कुमारों ने सोचा:- अभी तक यह हम लोगों का सेवक एवं दास था। संघ में आने पर भी इस में वही दास भावना न रह जाय इसलिए हम लोगों में सर्वप्रथम यही ज्येष्ठ भिक्षु बने, यही हुआ। समाज का शुद्र संघ में ज्येष्ठ भिक्षु और संघ के नियमानुसार ज्येष्ठ भिक्षु के चरणों में नमस्कार करते हुए अन्य सभी क्षत्रिय राजकुमार उसके कनिष्ठ उपद्रुक (सेवक) भिक्षु बने। कलके चरण-सेवक के चरणों में आज 'शाक्य भिक्षु' नतमस्तक हुए।

भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद महाकश्यप के सभापतित्व में जो प्रथम महासंगीति आयोजित हुई, उस में विनय विभाग के सभापति पद पर वही (नाई) उपालि आसीन किये गये। जो भारतीय इतिहास में विनयधर के रुप में प्रसिद्ध हुए। बुद्ध की इस नई संस्कृति में न जाने कितने शुद्र, चाण्डाल, वेश्या, भिल्लिनी, आदि जातियों के लोगों को केवल मानव होने का उच्चतम गौरव प्राप्त हुआ। आर्थिक समानता की दृष्टि से बुद्ध ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का निषेध किया उन्हों ने सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति की जगह संघो को देना उचित समझा। उन्हों ने व्यक्ति और समाजिक जीवन को सन्तुलित बनाये रखने के लिये निर्देशक सिद्धान्त के रुप में मध्यमार्ग को अपनाने की सलाह दी। उपभोग की दृष्टि से बुद्ध ने कहा कि अधिक कष्ट और अधिक सुख भोग दोनो ही हानिकारक एवं हीन आचरण है। इस प्रकार उन्हों ने दरिद्रता और विलासिता दोनों को समानास्तर का हेय बताया। उन्होंने जाति पर आधारित परम्परागत जीविका की मान्यता के विरोध में योग्यता एवं श्रमपर आधारित जीविका को प्रोत्साहित किया।

बुद्ध ने इन सामाजिक परिवर्तनों को व्यापक आधार देने की दृष्टि से उसी के अनुकुल एक दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया, जिसे एक शब्द में कहा जाता है:- प्रतीत्य समुत्पाद। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति या जगत के स्तर पर जो भी छोटी या बडी आन्तरिक जीवन में या बाहरी जीवन में, घटनायें घटती है, उसके पीछे एक नहीं अनेकानेक कारणों का समूह काम करता है। उन कारणों में कोई प्रधान और कोई गौण नहीं होता, प्रत्युत समूह के रुप में वे सभी अनिवार्य होते हैं। इन कारणों में ऐसा भी नहीं है कि कुछ परिवर्तनशील और कुछ अपरिवर्तनशील या स्थिर एवं नित्य हों। उस कारण समूह में जितने भी अनेकानेक प्रकार के घटक कारण होते हैं। इस रुप में कोई भी नयी घटना, नये, नये कारण समूहों के सम्मिलित प्रयास से ही घटती है। व्यक्ति या समाज के सन्दर्भ मे घटने वाली इन घटनाओं के पीछे के जो भी कारण समूह काम करते हैं, उन

में कोई भी स्थिर एवं गति हीन नहीं रहता। इस पूरे सिद्धान्त का निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि में सब कुछ गतिशील एवं परिवर्तनशील है और उस गति एवं परिवर्तन के लाने के लिये परस्पर की निर्भरता और सामूहिकता आवश्यक है। यह भी नहीं है कि कोई कार्य बिना कारण के दैववश घट जाता हो। किन्तु इस प्रकार के ऐतिहासिक परिवर्तन के लिये केवल बाहरी तैय्यारी नहीं प्रत्युत भीतरी तैय्यारी भी होनी चाहिये। बुद्ध ने कहा परिवर्तन का प्रारम्भ मन (चेतना) से होता है। परिवर्तन के पीछे ऐसी मानसीक तैय्यारी की आवश्यकता है, जो:- राग द्वेष और विविध प्रकार के अन्ध-विश्वासों एवं अज्ञान से अछूती हो। ऐसे परिवर्तनकारी श्रेष्ठ व्यक्ति के सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा:- जिसका चित्त लोक धर्म से अर्थात् लाभ- हानि, यश-अपयश, निन्दा-प्रशंसा, सुख-दुःख आदि में विचलित न हो और उसका जीवन निर्मल, निर्भय और शोक रहित हो। दु ख के कारण और उसकी निवारण की खोज ही बुद्ध की शिक्षा का मुख्य विषय है। दु खता की समस्या मानवीय समस्या है। देश काल और परिस्थितियों के बीच उस में कुछ बाहरी भिन्नता अवश्य दीखती है, किन्तु उसकी आन्तरिक संवेदनशीलता और जीवन पर उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव प्रायः समान होता है। उसका मूल कारण मनुष्य का मानसिक निर्माण है, जो उसमें व्यक्ति का अभिन्न अंग बन जाता है।

वह व्यक्ति केवल के न्द्रित नहीं रह जाता प्रत्युत, धर्म, संस्कृति, शिक्षा, आदि के द्वारा व्यापक रुप ले लेता है। उस स्थिति में दुःख की समस्या व्यापक एवं ऐतिहासिक बन जाती है। कुछ ऐसे व्यापक निर्माण के मूल में दो तत्व बताते हैं:- तृष्णा एवं अज्ञान। तृष्णा एवं अज्ञान का विराट् रुप है। तृष्णा व्यक्ति में अनियन्त्रित अभिलाषाओं के रुप में फलित होती है। समाज और राज्य में व्यवस्थाओं और सामाजिक मूल्यों के रुप में। बाहर और भीतर सब ओर से मनुष्य का जीवन तृष्णा की जटाओं से घिर चुका है। वह उसे कैसे काटे और उससे निकल सके, यह विकट प्रश्न है ? इस से उबर ने के लिये बुद्ध ने जीवन के तीन क्षेत्रों को चुना (1) मनुष्य का दैनन्दिन व्यवहार (2) व्यवहार के पीछे प्रेरणा देने वाला चित्त तथा (3) उसका निर्णय लेने वाली बुद्धि। इन तीनों को भी उन्हों ने स्वतन्त्र नहीं छोड़ा। प्रत्येक अपने को सुसंगत करने के लिये अन्य दो की अपेक्षा रखते हैं, यद्यपि निर्णय शक्ति प्रज्ञा का विशेष महत्व है। वही व्यवहार सदाचार शील कहलायेगा, जिसे निर्णायक बुद्धि समर्थन देगी और उसके पीछे चित्त की वे प्रेरणायें होगीं, जो राग द्वेष और मोह से अनुप्राणित न हो समधि।

इसी प्रकार वह बुद्धि सम्यक बुद्धि या प्रज्ञा मानी जायेगी जो सदाचार और राग- द्वेष से हीन मानसिकता का समर्थन करे। बुद्ध अपनी शिक्षा में प्रज्ञा पर बहुत जोर देते हैं। वादों और सिद्धान्तों के आग्रह के पीछे तृष्णा जनित प्रेरणायें काम करती ही रहती है। इस स्थिति में वादों और सिद्धान्तों को छोड़ने का परामर्श देते हैं। ये बताते हैं, यह तभी सम्भव होगा जब मनुष्य परिस्थिति का स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष निरीक्षण करेगा। भगवान बुद्ध ने बताया कि मनुष्य की सबसे बड़ी तृष्णा स्वयं मनुष्य ही है अर्थात अपनी अस्तित्व के प्रति उसकी अवधारणा है। उसकी ऐसी बनावट कि उसे वह तोड़ना नहीं चाहता, क्यों कि अपने को उसने स्वयं अपने ही हाथों बनाया है। इसलिये अपने बनाये को अपने हाथों तोड़ने का उसमें साहस नहीं रह जाता। यही कारण है कि वह स्वप्न लोक में जीवित रहता है। इस निद्रा को कोई दूसरा और तोड़ने वाला भी नहीं है। मनुष्य की समस्याओं का समाधान किसी दूसरे के वरदान और कृपापर निर्भर नहीं है। इस तथ्य को मनुष्य आँख ओझल रखना चाहता हैं। हमें मालूम है कि महाराज शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ ने अपनी बनायी जिन्दगी की पुरी इमारत को खुद ही तोड़ा था और स्वयं उस इमारत को धराशायी होते देखा था, तभी वह बुद्ध हो सके थे। मनुष्य में वैसा साहस कहाँ से आवे ? इसके लिये बुद्ध कहते हैं आओ! और जीवन के तथ्यों को देखो, अपने अन्दर ही नहीं, बाहर भी देखो। इसके लिये प्रमाद छोड़ कर पूरी तरह सावधान हो जाओ किसी ओर से यह रहस्य नहीं है, जीवन का यथार्थ है। देखोगे तो तृष्णा की जटाओं को टूटते हुए पाओगे। इस

स्थिति में व्यक्ति या समाज में यदि बुनियादी परिवर्तन लाना उद्देश्य है तो अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रचलित अवधारणाओं को बदलना होगा। बदलाव की प्रखरता बुद्ध में सबसे अधिक थी और यही उनकी विशेषता थी।

मैं ने बुद्ध की शिक्षाओं को कुछ समझा, कुछ जाना, और कुछ जानने कि प्रयत्न कर रहा हूँ, तब मेरी यह मनो दशा है तो वे लोग जो इस से कोशो दूर हैं, उन्हें कैसे विश्वास होगा कि उपर लिखे विचार एक हमारे भारतीय पूर्वज के विचार हैं। यदि ये सही है, तो कहाँ गये वे विचार, कहाँ गया वह भारत ? आज के भारत को चारों ओर से देखने, सुनने पर किसी ओर से भी वैसा कुछ दिखायी नहीं पडता, सुनाई नहीं पडता, उसकी गन्ध तक नहीं आती। तब सामान्य भारतीय कैसे विश्वास करे ? यह कैसे विश्वास करे कि इन सिद्धान्तों ने हमें और हमारे देश को हजारों वर्षों तक प्रभावित किया था। वह यह कैसे विश्वास करे कि हमारे पूर्वजों ने ईसापूर्व और पश्चात् काल में इन्ही भारतीय विचारों से विश्व गोणार्ध के पचासों देशों को प्रभावित किया था और आज भी विश्व के बडे भूभाग में जीवित है, जब कि हम मानो इसे सदा के लियें भूला चुके हैं। हमारे लिये 'बुद्ध' एक विदेशी के समान लगते है। यह तथ्य है कि 'बुद्ध' जब से विदेशी बनाये गये तो हमारी स्वतन्त्रता भी विदेशी हाथों में चली गयी। पुनः स्वराज्य होने पर ध्वजा, मुद्रा, आदर्श वाक्य आदि पर 'बुद्ध' को स्मरण किया गया, किन्तु वह जीवन से दूर केवल राजनीति थी। यदि उस दिशा में कुछ समान परिवर्तन का काम किया गया होता तो हजारों साल की गुलामी में उदास बने हुए आज के भारतीय मन को अपने सांस्कृतिक गौरव से तेजस्वी बनाया होता किन्तु संस्कृति के नाम पर मात्र दिखता है नाच, गाना, ड्रामा एवं सिनेमा और परम्परा के नाम पर मन्दिर- मस्जिद, यज्ञ-कीर्तन, कुम्भ और हज। इस कोलाहल के बीच आदमी की बात कौन सुनता है? जब आदमी ही नहीं तो 'बुद्ध' कहाँ ? जब 'बुद्ध' नहीं तो वह भारतीयता कहाँ जो मानव-जाति की पीड़ा की वाणी बन सके।जब वह भारतीयता नहीं, जो जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद, ऊँच-नीच, अलगाव और अनेकता क्यों नहीं ? ये ऐ ऐसे प्रश्न हैं, जिन के समाधान की दिशा खोजनी होगी।भगवान बुद्ध को केवल नैतिक उपदेष्टा और उनके धर्म को तत्वशास्त्र [*मेटाफिजिक्स, फिलसाफी*] से विहिन मानने वाले विपर्यास प्रतीत होते हैं।बौद्ध धर्म को श्रद्धा और विश्वास से रहित देखने वालों, अथवा कोरे बौद्धिक बौद्ध जगत की कल्पना करने वालों को दृष्टि ग्राह हो गया प्रतीत होता है। भगवान बुद्ध के उपदेशों में अथवा पालि एवं संस्कृत बौद्ध साहित्य में जो लोग श्रद्धा युक्त धर्म, तर्क संगत, सुक्ष्म दर्शन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, एवं रहस्यात्मकयोग चर्या का समुचित सामञ्जस्य नहीं देख सकते हैं, वह बौद्ध धर्म के सच्चे स्वरुप से सहस्त्रों किलो मिटर दूर हैं। सत्य तो यह है कि शाक्यमुनि बुद्ध द्रष्टा थे, तत्वदर्शी ऋषि थे, जो सत्य अथवा तत्व उन्हों ने प्राप्त किया था, उसे 'धर्म' की संज्ञा दी गई है, यहाँ पर धर्म का साधारण पारमार्थिक अर्थ है। जिसको परमार्थ सत्य [परमः उत्तमः परमार्थः] अथवा अमृतपद अथवा "*अल्टिमेट रियालिटी*" कहते हैं, वही 'धर्म' है। यह 'धर्म' गम्भीर, दुर्दृश्य, दुरनुबोध, सुक्ष्म, निपुण तर्क के परे, एवं विज्ञजनो द्वारा वेदनीय कहा गया है।

यही बोधि या निर्वाण कहलाता है। इसी धर्म को अधिगत करके शाक्य मुनि बुद्ध हुए, धर्म कोविद और धर्मधातु [धर्मकाय] स्वरुप हो गये थे। इस धर्म को प्राचीन श्रुति ग्रन्थों में 'प्रतित्यसमुत्पाद' के सिद्धान्त का नामान्तर कहा गया है। जो "धर्म" को जानता है, वह वस्तुतः प्रतीत्य समुत्पाद को जानता है, और जो प्रतित्य समुत्पाद को जानता है, वह "धर्म" को जानता है। इस 'धर्म' अथवा प्रतित्यसमुत्पाद के सिद्धान्त में द्वितीय एवं तृतीय आर्य सत्य निहित है।

अतः बौद्धधर्म दर्शन का नवनीत यही 'धर्म' है। शास्त्र वचन है, जो 'बुद्ध' को देखता (ठीक प्रकार से जानता) है, वह 'धर्म' को जानता [देखता] है, 'धर्म' का ज्ञान ही 'बुद्ध' का ज्ञान है। यही बुद्धत्व का 'प्राण' है। यही निर्वाण है, यही प्रज्ञा पारमिता है। ऐसा सोचना मानना सम्यक् दृष्टि है। प्रतीत्य समुत्पाद का विचार एक

सुक्ष्म, गम्भीर एवं वैज्ञानिक दर्शन प्रस्तुत करता है। कार्य और कारण, उत्पाद और च्युति, प्रपञ्च और उपशम्, संसार और निर्वाण आदि दार्शनिक और आध्यात्मिक पहेलियाँ इसी विचार सागर में लहराती है। प्रतीत्य समुत्पाद का निमय बुद्धिगम्य, विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक दर्शन का एक उत्कृष्ट नमूना है। वस्तुओं एवं घटनाओं का स्वभाव क्या है, उनकी उत्पत्ति क्यों अथवा किस प्रकार होती है, और उनसे छुटकारा किस प्रकार हो सकता है, आदि का निर्विवाद उत्तर यही नियम देता है । यह दर्शन है, तत्वदर्शन है, तत्वदशर्न और गूढदर्शन, इसके दृष्टा और व्याख्याता भगवान 'बुद्ध' थे। यदि कार्य-कारण नियम [लाँ आफ कॉजेकिर्टी] आधुनिक विज्ञान (साँयन्स) और विज्ञान कौशल [टेकनालॉजी] की जगती आधार भित्ति है, तो शाक्य मुनि विश्व के प्रथम वैज्ञानिक थे।

पैंतालिस वर्षों तक वह श्रमण जिनके चरणों में राजा और सम्राट्, सामन्त और श्रेष्ठि, विद्वान और स्वाभिमानि सिद्ध, हिंसा पूर्ण कार्योमेंरत आतंकवादी और सांसारिक योगपूर्ण ऐश्वर्य से लदे हुए नर-नारी झुकते अघाते नहीं थे, शील, समाधी, और प्रज्ञा का, करुणा मैत्री, मुदिता और उपेक्षा का, अहिंसा अमृषा अस्तेय, संयम और सन्तुलन का विश्व व्यापि आर्य सत्यों और कल्याण कारी मध्यम मार्ग का, निरोधरुपी शाश्वत शान्ति और निर्वाण रुपी परम सुख का, अधिकतम लोगों के सुख के लिये, आधिकतम लोगों के हित के लिए, लोक पर कृपा करने के लिए, उपदेश करता रहा। उन के जीवन का प्रधान लक्ष्यः-

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न नापुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानं प्राणिनांमार्ति नाशनम्।।

मैं न राज्य रहता हूँ, न स्वर्ग, न मोक्ष। मैं चाहता हूँ कि दुःखी प्राणियों का दुःख नाश हो। इस प्रकार बौद्धधर्म एक 'धर्म' है, एक दार्शनिक पद्वत्ति है, एक नीति शास्त्र है, जिसकी आचार संहिता सर्वाधिक विश्वव्यापि और सुविकसित है। यह एक प्रकार का योग शास्त्र, नैतिक मनोविज्ञान एवं "चित्त समतिक्रान्त विज्ञान" **(metapsychology)** भी है। बौद्धधर्म वैज्ञानिक साम्यवाद और व्यक्ति स्वातन्त्र के साथ-साथ विश्वशान्ति एवं मानववाद के आधारपर विश्वधर्म एवं सनातन शाश्वत "धर्म" की भी भूमिका अदा करता है। भगवान बुद्ध द्वारा दिये संन्देश के महत्व को समय ने भूलाया नहीं है। वर्षों पहले अस्तित्व समय से ही स्थाई मानव मुल्यों के रक्षार्थ कार्य किया है। यह केवल सोचतक ही सीमित न रह कर आधुनिक युग के तनाव पूर्ण वैमनस्य के परिप्रेक्ष में विश्व कल्याण की भूमिका निभा सकता है, "महामानव 'बुद्ध' की शिक्षा", जिसकी वर्तमान समय में वूर्ण प्रासंगिकता है। वैज्ञानिक युग में उतना ही उपयोगी हैः- जैसा की शुरु में था। उसी में से आशा और उत्साह की किरण भी दीखने लगती है।

धर्मश्चि रक्षति नरं न धनं बलं वा।
धर्मः सुखाय महते न विभूति सिद्धिः।।
धर्मात्मनश्च मुदमेव करोति मृत्यु।
र्न ह्यस्ति दुर्गतिभयं निरतस्यधर्मो।। [*अयोगृह जातम 32 47 पृ 382*]

धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है, न कि धन या बल।

धर्म से ही महा सुख होता है, न कि संम्पत्ति की प्राप्ति से। मृर्त्यतो धर्मात्मा को आनन्द ही देती है, उसके लिये दुर्गति का भय नहीं है।

"तुह्मे किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता"

"प्रयत्न तुह्मे ही करना है "तथागत" तो केवल उपाय बताने वाले हैं।

इति भवतु सम्वमंगलम्।

बुद्धवचन : यो खो वक्कलि, धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति, यो मं पस्सति, सो धम्मं पस्सति, । धम्मं हि वकूलि, पस्सन्तो मं पस्सति, मं पस्सन्तो धम्मं पस्सति।

वक्कलि, जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है। और जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है। वक्कलि, धर्म को देखने वाला मुझे देखता है और मुझे देखने वाला धर्म को देखता है। [*संयुक्तनिकाय 3, 87, पृ 341*]

एव मेव खो भिक्खवे, कुल्लूपमो मया धम्मो देसितो नित्थरणत्थाय, नो गहण त्थाय। कुल्लूपमं वो भिक्खवे, धम्मं देसितं अजानन्ते हि धम्मापि वो पहातब्बापगेवअधम्मा।

भिक्षुओ, मैं बेडे के भाँति पार जाने के लिए तुम्हे धर्म का उपदेश देता हूँ, पकड कर रखने के लिए नहीं। बेडे की तरह धर्म को जानने वालों के लिए धर्म भी छोडने लायक है, अधर्म की तो बात ही क्या? [*मल्झिमनियाक 1 22 पृ 179*]

नब्रह्मणस्स परनेय्य मत्थि
धम्मेसु निच्छेय्य समुग्गहीतं ।।
तस्मा विवादानि उपातिवत्तो।
नहि सेट्ठवतो पस्सति धम्ममञ्ञं ।।
जानामि पस्सामि तथेव एतं ।
दिट्ठिया एके पञ्चन्ति सुद्धिं ।।
अद्धकिख चे किञ्हि तुमस्सतेन।
अतिसित्वा अञ्ञेन वदन्तिसुद्धि।।

विद्वान् व्यक्ति सत्य के लिए दुसरे पर निर्भर नहीं करता, विचार के बाद धर्मों में से किसी को ग्रहण नहीं करता, इसलिए वह विवादों से परे है। सत्य को छोड कर किसी दूसरे धर्म को श्रेष्ठ नहीं समझता। जो किसी सिद्धान्त में आसक्त है, वह शुद्ध नहीं होता, क्यों कि वह किसी दृष्टि में आसक्त है।[*सुत्तनिपात, 4, 13, पृ 409*]

माता कथा नियं पुत्तं आयुसा एक पुत्त मनुरम्खे।
एवं पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं।।

माता जिस प्रकार जान की परवाह न कर अपने एक लौते पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार प्राणि मात्र के प्रति असीम प्रेम, मैत्री, भाव बढावें।[*सुत्तनिपात, 1, 8, पृ 291*]

नहिवेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो।।

इस संसार मे बैर से बैर कभी शान्त नहीं होते, अबैर अर्थात् मैत्री से ही शान्त होते हैं। यही सदा का नियम है। [*धम्मपद, 16, 8, 12, 2, 1, 8*]

बाहुकं अधिकक्कं च गयं सुन्दरिकामपि ।
सरस्सतिं पयागं च अथो बाहुमति नदिं।।
निच्चं पि बालो पम्खन्तो कण्हकम्मो न बुज्झति।
किं सुन्दरिका करिस्सति किं पयागो बाहुका नदीं।।
वेरि कत कि ब्बिसं नरं न हि नं सोधये पपकम्मिनं।।।

बाहुका, अधिकम्कक्म, गया, सुन्दरिका, सरस्वती, प्रयाग और बाहुमती नदी में कुकर्मी चाहे नित्य नहाये, किन्तु शुद्ध नहीं होगा। क्या करेगी सुन्दरिका, क्या प्रयाग तथा बाहलिया नदियाँ करेगी। वे पाप कर्मी को शुद्ध नहीं कर सकती। [*भज्झिम निकाय, 17, पृ 52*]

चरथभिक्खवे,चारिकं बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय, अत्थाय हिताय, सुखाय देवमनुस्सानं। मा एकेन द्वे, अगमित्थ, देसेथभिम्खवे, धम्मं आदि कल्याणं, मज्झे कल्याण, परियोसान कल्याण,सात्थं सब्यञ्जन केवल परिपुण्णं, परिशुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ।

भिक्षुओ, बहुजनों के हित केलिए, बहुतजनों में सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवता और मनुष्यों के प्रयोजन् के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। भिक्षुओ, आदि में कल्याण, मध्य में कल्याण, अन्त में कल्याण, इस धर्म का उपदेश करो।[*विनय, महावग्ग, 110, पृ 23*]

न जञ्चा वसलो होति न जञ्चा होति ब्राह्मणो।

कम्मुना वसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो।।

जन्म से कोई नीच नहीं होता है, न श्रेष्ठ। कर्म से ही व्यक्ति नीच होता है और कर्म से ही श्रेष्ठ होता है।

गामे वा यदि वारञ्चे निन्नेवा यदिवाथले।

यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमि रामनेस्यकं।।

जिस गाँव, वन, तराई या मैदान में अर्हत् विचरण करते हैं, वहि भूमि पवित्र है।[*धम्मपद, 7, 98*]

गहकारक! दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि ।

सब्बाते फासुगा भग्गा गहकूटं विसंखतं।।

विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खय मज्झगा।।।

ऐ ! घर बनाने वाले मन, मैं ने तुम्हे देख लिया हैं, अब तुम घर न बना सकोगे । तुम्हारे सभी कड़ीयाँ भग्न हो गयी और गृहकूट विश्रंखलित हो गया है। संस्कार रहित हो मेरा चित्त अब तृष्णा को नष्ट कर चुका है। [*धम्मपद, 11, 153, 154*]

तुम्हे हि कच्चं आतप्पं अम्खातारो तथागता।

पटिपन्ना पमोम्खन्ति झायिनो मार बन्धना।।

प्रयत्न तुम्हे ही करना है, तथागत तो केवल उपाय बताने वाले हें। जो प्रयत्नशील होगा, वह बन्धन मे छुटेगा। [*धम्मपद, 20, 276*]

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।

सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।।

सभी पापों को न करना, पुण्य का सम्पादन करना, और अपने उपर नियन्त्रण रखना यही बुद्ध का धर्म है। [*धम्मपद, 14, 183*]

तस्मातिहानन्द, अत्तदीपा विहरथ, अत्तसरणा, अनञ्ञसरण, धम्मदीपा, धम्मसरणा, अनञ्ञसरणा।

इस लिए आनन्द, अपने को दीपक बनाओ, अपनी शरण में जाओ, दूसरे की नहीं। धर्म को दीपक बनाओ, धर्म की शरण में जाओ, अन्य की नहीं। [*दीधनिमाय, 23, पृ 80*]

अर्थप्रति शरणता, न व्यञ्जन प्रतिशरणता, धर्म प्रतिशरणता न पुद्गल प्रति शरणता।

भिक्षुओ, अर्थ की शरण में जाओ, शब्द की नहीं, धर्म की शरण में जाओ, व्यक्ति की नहीं।[*महायानसूत्र संग्रह, I भाग, पृ 332*]

इति

भवतु सर्वमङ्गलम्।